

**Jangal, Jan aur Jeevan : Samkalin Adivasi Upanyason Mein  
Paristhitik Sankat Ka Chithran**

**जंगल, जन और जीवन : समकालीन आदिवासी उपन्यासों में पारिस्थितिक संकट का चित्रण**

**डॉ. अनिता. पी. एल  
असिस्टेंट प्रोफेसर  
हिन्दी विभाग  
महाराजा कॉलेज  
एरणाकुलम**

**सारांश :**

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पारिस्थितिक संकट को केवल प्राकृतिक असंतुलन नहीं, बल्कि एक सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक संकट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जंगलों की कटाई, बांध निर्माण, औद्योगिक प्रदूषण, विस्थापन और शोषण के माध्यम से आदिवासी और गरीब समुदायों के जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डाला गया है। इन उपन्यासों में न केवल पर्यावरण विनाश को उजागर किया गया है, बल्कि प्रतिरोध और अधिकार की चेतना को भी रेखांकित किया गया है।

**मूल शब्द :**

पर्यावरण संकट - वन विनाश - वन्य जीव संरक्षण - जैव विविधता का ह्रास - औद्योगिक प्रदूषण - जल प्रदूषण - विस्थापन - सूखा और अकाल - ठेकदारी व्यवस्था - शोषण और लूट - प्राकृतिक संसाधनों को दोहन - आदिवासी जीवन संकट

**भूमिका :**

21वीं सदी का विश्व कई संकटों से जूझ रहा है, जिनमें पर्यावरणीय असंतुलन सबसे गंभीर और सार्वभौमिक चुनौती बनकर उभरा है। जलवायु परिवर्तन, वन कटाव, जैव विविधता का विनाश, प्रदूषण, औद्योगीकरण, और प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के कारण न केवल पारिस्थितिक तंत्र असंतुलित हो रहा है, बल्कि मानव जीवन का अस्तित्व भी संकट में पड़ता जा रहा है। यह संकट केवल वैज्ञानिक और राजनीतिक विमर्श का विषय नहीं रह गया है, बल्कि साहित्यिक चेतना का भी एक प्रमुख हिस्सा बन चुका है।

हिन्दी साहित्य, विशेषतः समकालीन हिन्दी उपन्यास, इस संकट की गूँज को न केवल सुनता है, बल्कि उसे शब्दों में ढालकर समाज के सामने रखता है। समकालीन रचनाकारों ने प्रकृति के दोहन, आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के विस्थापन, नदी-जंगल-पहाड़ की त्रासदी, तथा विकास की अंधी दौड़ में नष्ट होते मानवीय मूल्यों को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। ये रचनाएँ केवल कल्पना नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ का प्रतिरोधी दस्तावेज हैं। पर्यावरणीय मुद्दों पर केंद्रित रचनाएँ न केवल संकट की ओर संकेत करती हैं, बल्कि पाठक को विचार के लिए प्रेरित भी करती हैं। उपन्यासकारों ने अपने लेखन में विकास बनाम प्रकृति की बहस को गहराई से उठाया है—जहाँ एक ओर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, पूँजीवादी ताकतें और राज्य की नीतियाँ प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार जमाने की कोशिश करती हैं, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ तादात्म्य रखने वाली जनजातियाँ, किसान, स्त्रियाँ और पशु-पक्षी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते नज़र आते हैं।

'गगन घटा घहरानी', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'पार' और 'जहाँ खिले हैं रक्त पलाश' जैसे उपन्यास न केवल साहित्यिक सौंदर्य के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि इनका सामाजिक, पारिस्थितिक और सांस्कृतिक मूल्य भी अत्यंत गहन है। इन रचनाओं में पर्यावरणीय संकट के विभिन्न आयामों को बड़े ही प्रभावशाली और यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ये उपन्यास उस मौन को तोड़ते हैं जो मुख्यधारा के विमर्श में प्रकृति और वंचित समुदायों के पक्ष में अक्सर सुनाई नहीं देता। इस शोधआत्मक अध्ययन के माध्यम से समकालीन हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त पर्यावरणीय चेतना, पारिस्थितिक संकटों की प्रस्तुति और उनका वैचारिक-साहित्यिक महत्व समझने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन इस बात की भी पड़ताल करता है कि हिंदी साहित्य किस तरह से पर्यावरणीय मुद्दों को न केवल शब्द देता है, बल्कि एक वैकल्पिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है जो समावेशी, संवेदनशील और जीवन-केंद्रित है।

भारत जैसे घनी आबादी और दूर दूर तक फैली गरीबी वाले देशों में पर्यावरण के हर अंग पर बहुत सारे लोगों और समूहों का अस्तित्व टिका हुआ है। जब भी कोई ऐसा अंग बर्बाद होता है समाज का एक शक्तिशाली वर्ग उसपर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं तो उससे वंचित होने वाला कमज़ोर वर्ग पहले से ज़्यादा कमज़ोर बेसहारा और गरीब बनता जाता है। पर्यावरण संकट से आर्थिक स्थिति ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक मृत्यू की छाया भी मंडराती है।

जब हमारा देश आज़ाद हुआ तब देश की औसत चालीस प्रतिशत ज़मीन वनाच्छादित थी। आज हमारे देश के केवल ग्यारह प्रतिशत जंगल रह गये हैं। इसका प्रभाव हमारे वातावरण पर पड़ रहा है। हर वर्ष गर्मी बढ़ती जा रही है। देश के आधे से अधिक हिस्सा सूखे का प्रकोप झेल रहा है। 'गगन घटा घहरानी' में हमारे अप्रत्यक्ष होनेवाले जंगलों की ओर लेखक ने इशारा किया है। वन तेज़ी से अप्रत्यक्ष होने के साथ साथ वन प्राणियों की संख्या में हास हुआ है। किसिम किसिम रासायनिक कारखानों, अणु आयुधों से विश्व का पर्यावरण असन्तुलित होता जा रहा है। सरकार ने वन विभाग में वन प्राणियों के संरक्षण के लिए, वन रोपण के लिए, लकड़ियों के व्यापार के लिए, लाह, सखुआ, बीज, पीड़ी पत्ते, कत्थे आदि वन उद्पादकों की नीलामी पर रोक लगा दी गई है। लेकिन ठेकेदारी पर रोक नहीं लगायी है। वन विभाग के अफसर लोग अपनी देखरेख में ही जंगल की कटाई करवाता है। सरकार लकड़ी काटनेवाले मज़दूरों का ज़िम्मा नहीं लेते ठेकेदार ठीक तरह से मज़दूरों को तनख्वाह भी नहीं देते। जंगल में वास करने वाले लोगों के द्वारा ही जंगल की कटाई करवाता है। जंगल में जब आग लग जाती है तब सारा दोष सरकार आस पास के गांवों में रहनेवाले आदिवासियों के सिर पर मढ़ा जाता है। ठेकेदार आपनी लाभ और कटाई की सुविधा के लिए जंगल का जंगल साफ कर देते हैं।

सरकार ने वन प्राणियों के संरक्षण के लिए नियम बनाया है और वनप्राणियों को घर में पाल रखना कानून के विरुद्ध है। लेकिन रायबहादूर अपनी शान बढ़ाने के लिए जंगली जानवर चीते को अपने घर में पाल रखा है। चीतेवाले रायसाहब के नाम से वे जाते जाते हैं। वन्य जीवों का संरक्षण का कानून बनानेवाला, शिकार और जानवरों की धर पकड़कर रोक लगानेवाले मंत्री चीते के कारण राय बहादूर की इज़्जत करते हैं। जंगल की उरांव जनजातियों का एक ही दुःख है कि जंगल, खेती, इज़्जत, आबरू सब छिन रहे हैं। उरांवों का सारा खेत किसी दूसरे का हो गया। अब खेत ही नहीं जंगल, पहाड़ सब सरकारी ही है, इसलिए जंगल के पुत्र-पुत्रियों को गांव छोड़कर भागना पड़ेगा नहीं, भागना पड़ रहा है। प्रतिरोध की एक चिन्गारी

लेकर सोनाराम उरांवों के बीच आता है। सारे उरांवों के मन में जंगल की मलिकाना पर अपने हक को और भी मज़बूत बना देता है। साक्षात्कार के लिए आए माध्यम पत्रकार से मानसुख कहता है कि "यह जंगल हमारा है वैसे ही जैसे उस गाछ का है यहाँ के जानवरों का है। यहां की नदी, झरने, पहाड़ और ये खेत भी हमारे हैं। इन्हें किसी को बेचा नहीं जा सकता।"<sup>1</sup> इन काटते हुई जंगल की ओर इशारा संजीव 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में धांसगड़ों की कथन से व्यक्त किया है। धागड़ शिकदार पुर गांव का है अंग्रेज़ सरकार बरसों पहले इन धागड़ों को नागपुर से जंगल साफ करने के लिए ले आया। जंगल की जगह खेती हो गयी। लेकिन आज वहाँ जंगल भी नहीं खेती भी नहीं।

'पार' उपन्यास में हम देख सकते हैं कि बाँधवालों ने राजघाट से लडैई तक जगह जगह से पेड़ उखाड़ दिए थे, बाँध का तटबंध बनाने के लिए रास्ते से मिट्टी निकाल ले गए थे। इन गड़ों के चलते गांववालों के लिए गांव से शहर तक फसल ले जाना असंभव हो गया था। इसलिए बनिया, बाखर गांव छोड़कर शहरों में जा बसे थे। राजघाट बाँध का काम ज्यों ज्यों आगे बढ़ा गांव से शहर तक फसल ले जाना दुभर हुआ था। जहाँ कभी दूर दूर तक खेती खलिहान थे वहाँ बाँधवालों ने बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ खड़ी कर ली थीं। जब बाँधवालों ने दोनों तरफ के तटबंध बनाने शुरू किए तब तो कहर ही बरसने लगा। बरसात का जो पानी पहाड़ों से उतरकर नालों के रास्ते तक जाता नहीं था, वह नदी में जाना बंद हो गया और पानी नाला में सड़ने लगा। इन नालों से दल दल जमा हो गया। नालों के रास्ते से बैलगाड़ी से ही नहीं, पैदल भी चंदेरी जाना कठिन होने लगा। बाँध पूरा होने तक एक बड़े क्षेत्र में जो पानी रुक रहा था उससे दल दल बनने की नई समस्या सामने आने लगी। मलेरिया और पेट के रोग बढ़ने लगे। दल दल भूमिश्चरीयता बढ़ाते हैं उससे ज़मीन खेती योग्य नहीं रह जाएगी। बाँध के पानी के साथ जो रेत खेतों तक आती है वह रुक जाती है, वह खेतों को उपजाऊ नहीं रहने देगी।

सरकार अभयारण्य बनाना चाहती है। बाँध के लिए जब वन की कटौती शुरू की गयी तो धीरे धीरे जंगल साफ होने लगे। अगर इसी तरह विकास के नाम पर वनों को साफ करने लगेंगे तो एक न एक दिन वनों का भी नमोनिशान नहीं होगा। बाँध पूरे होने पर हमारी वनसंपदा, वनसंपत्ति और वन प्राणियों की जो हानी हो चुकेगी उसकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकेगी। सरकार प्रकृतिक वनों की संरचना की बात कहती है। लेकिन वह एक जटिल प्रक्रिया है। हज़ारों वर्ष का विकास ही वनसंपत्ति से प्रदान हुआ है वह बहुमूल्य वन और जैविक संपदा होती है। जब बाँध के लिए ही सरकार के पास पैसा नहीं है तब पर्यावरण सुधार की बात सरकार की तरफ से बड़े दूर की बात है। पूँजीवदी मानसिकता, वैश्वीकरण, बाज़ारवाद आदि के सम्मिलित रूप ने एक अमानवीयकरण को जन्म दिया, न केवल मनुष्यों के प्रति नहीं अपितु नदी, पेड़, फूल समूचे प्रकृति के प्रति बेरहमी का भाव पसरा हुआ है। आज लगभग तय हो चुका है कि अकाल, सूखा, भूकंप, अनावृष्टि, घटता हुआ जल स्तर आदि प्राकृतिक प्रकोप नहीं है। ये सब प्रकृति के प्रति अप्राकृतिक आचरण के कुफल हैं।

'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में राकेशकुमार सिंह ने परिस्थिति के प्रति मनुष्य के घिनौने हरकतों और अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति के शोषण करने के विभिन्न तरीकों पर विचार किया है। गाजर घास और चववाड़ पहले पलामू में नहीं होते थे। जब विदेशी यहाँ आया था तब से वे विदेशी राशन के साथ ही आए हैं, यह विनाशक विदेशी बीज है। ये बीज रक्त बीन की तरह हर साल को सदर कोस फैले हैं। पलामू की स्थानीय वनस्पतियों को बड़ी तेज़ी से विस्थापित

कर रही है यह गाजर घास । पलामू के जंगल अब शहरों में जा बसे है । हमारा देश आज़ाद हुआ तब देश की औसत चालीस प्रतिशत ज़मीन वनाच्छादित थी । धीरे धीरे जंगल कटते गए । आज हमारे देश के केवल ग्यारह प्रतिशत जंगल रह गए हैं । पलामू के जंगल अब शहरों में दरवाज़ों, खिड़कियों, शहमीरों, केबिनटों, सोफासेटों और डाइनिंग टेबिलों की शकल में हैं । आने वाली पीढ़ी को देखने के लिए जंगल नहीं होंगे जो शेष रह गया है वह भी समाप्त होते जा रहे हैं । इससे बरसात कम होती जा रही है और देश को आधे से अधिक हिस्सा सूखे का प्रकोप झेल रहा है । मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, तेलंगाना, रायलसीमा, कर्नाटक का पश्चिम भाग आदि बरसों से सूखे का सामना कर रहे हैं । जंगल को इसतरह निगल लेने की प्रवृत्ति करने वाला और कोई नहीं हमारे शासक और कानून है । अमेरिका में जब मूल्य संतुलन बनाये रखने के लिए टनों अनाज समुद्र में डूब दिया जाता है, कई एकड़ में पकी तैयार खड़ी फसल में आग झोंक दी जाती है । पलामू में भूख से हर वर्ष सौकड़ों की मौत होती है । जो सरकारी रपटों में अज्ञात रोग से मृत्यु के रूप में दर्ज की जाती है । पलामू के रेलवेस्टेशन में सूट बूट पहनकर आनेवाले लोगों को यदि जाँच करने पर उनके हाथ से कत्था, हाथी का दान्त, बाघ का हाड़, हरिण , चीता की छाल आदि मिलेगा । बदले में देते है नकशे उजला पौडर, हिरोईन, ये सब माल रेलवेस्टेशन के चाय पानी गुमटियों में बिकता है ।

अब कारखानों के कचरे से संकट में है जलचरा । कारखानों के कारण दक्षिणी कोयला का पानी दूषित हो चुका है । विलुप्त होने के कगार पर है दामोदर नदी, कोयल । पर्यटक विभाग की वातानुकूलित कारों पर जंगलों का नज़ारा करने के लिए आनेवाले लोगों के लिए नंगे आदिवासी, खपड़ी पेट के बच्चे. अधनंगे आदिवासी, वीरान बस्तियाँ, बूढ़े सब कुतूहलता भरने वाला दृश्य है । पलामू जंगल ही नहीं पहाड़ों को भी छेदती रहती है । बाँध के लिए तोड़ते है पत्थर । इसको छेदने के लिए बिलों में बारुदी पाउडर भरते है । फिर रात भर टूटने की आवाज़ । जंगल का टकर नये जंगल लागाने की आकाशी योजनाएं हैं सरकार को । पेड़को काटने पर हम दस पेड़ उगाये जा सकते है । किन्तु पहाड़ के काटने के बाद नये पहाड़ कैसे उगाये जायेंगे । टनकपुरा में बनजाने वाले बाँध के लिए ही यह सारा शोषण हो रहा है । अब भूमि के लिए संघर्ष करने से कोई फायदा नहीं, क्यों कि अधिकांश भूमि अब पठार है और सिंचाई की पर्याप्त सुविधा तक नहीं । भूमि अपनी रत्नगर्भ विशेषताओं के लिए देशी विदेशी कंपनियों द्वारा अधिगृहित की जा रही है । पलामू की सड़कों पर वन्य पदार्थों की तस्करी पर रोक लगाने के लिए जगह जगह चेकनाके हैं । लेकिन गाड़ियों का चेकिंग का नाटक होता है क्यों कि चेकिंग करनेवाले भी जानते हैं कि माल सड़कों से नहीं बल्कि आधीरात जंगल से, घोड़ों, साइकिलों, और सिर पर लादकर गढ़वा रहेला के बाज़ारों में पहुँचाता है । भोलता नदी अब गंदा नाला बन चुकी है । रोहला कॉस्टिक फैक्टरी का सारा उच्छिष्ट गलज इसी नदी में उड़ेल जाता है । रेहल कॉस्टिक कारखाने के लिए नित्य एक दो रौक कच्चा माल लाती हैं रेल गाड़ियाँ । स्टेशन के यार्ड में बोरे उतरते हैं यह बरसात में धूल धूलकर बहता रहता है । इसी कारण से स्टेशन के निकट के कई बीघे खेत बंजर हो चुके हैं, पर किसानों को कोई चिन्ता नहीं । क्यों कि उन लोगों को ज़मीन की मुआवज़ा मिली है । भूमि के भीतर के जल स्रोतों में यूरिया, नाइट्रोजेनस, सल्फर और फ्लोरइड गुलता रहे, बहुत लोगों की भूमि अधि गृहित करके कारखाना लगाया है पलामू की ज़मीन पर । विरोधी राजनीतिक दलों को तो इस प्रदूषण की चिन्ता है ही नहीं । कारखानों से कच्चा माल गाड़ी से उतरनेवालों में छोटी जातियों के लोग ही ज़्यादा है । रसायन की मार से लाल लाल चकते हो जाते है इनके पीठ ।

यह ज़हरीला रसायन सांसों के साथ फेफड़ों को छलनी करता है और टी.बी रोग का कारण बन जाता है। यहाँ काम करनेवालों के लिए कंपनी ने न मास्क दिए हैं न डांगरी। गरीबों के बारे में किसी को चिन्ता नहीं। कारखानेदार ने सभी राजनीतिज्ञों को चंदा देकर अपने जैब के अन्दर रखा है। कोयला नदी का पानी गन्दा करने पर भी सरकार ने काँस्टिक फैक्ट्री को जिले के सर्वोत्तम प्रदूषण मुक्त संस्थान का पुरस्कार दिया है।

कोयला नदी के पार पुराना पलाश वन के स्थान में वन विभाग नया जंगल बनाने की कोशिश में है। खेतिवाले ज़मीन को सींचने योग्य के लिए की योजना बनाने के बदले जंगल लगा रहे हैं। वन-विभाग यूकालिप्टस और विदेशी बबूल जैसे पेड़ लगाते हैं। ये पेड़ इतना पानी सोखता है कि इलाके का सारा भूमि बंजर बन जाते हैं। इसलिए इन वृक्षों को जलनाशी वृक्ष कहते हैं। भूदान में विनोबाजी को सबसे ज़्यादा इक्कीस लाख एकड़ ज़मीन बिहार में मिली थी। उस वक्त पलामू घोर जंगल था। लेकिन अब जंगल के ज़मीन को धड़ा धड़ व्यापारी, कारखानेदार खरीद रहे हैं, क्यों कि इन स्वार्थी लोगों को ज़मीन के नीचे के खज़ाने के बारे में पता चला है। कोयले, लोहे, अबरक, जिप्सम, तेल के तालाब हैं ज़मीन के नीचे। अब पलामू की भूमि पर धान गेहूँ, दलहन और तिलहन नहीं उगेंगे। बदले में उगेंगे तेल के कुएँ। प्यासी को पानी के लिए मिलेंगे तेल, डीज़ल और पेट्रोल। अब पलामू जंगल की धरती से कोयला जाएगा विदेश वहाँ के बिजली घरों को उजागर और हथियारों के कारखाने खायेंगे। हमारा फ़स्ट क्लास कंग्रेट इंडियन कोल और उगालेंगे ज़हरीला धूँआँ। शंभू पटवा का कथन सत्य है कि "प्रकृति में जो कुछ विद्यमान है उसका मूल्य अपरिमित है। उसके दोहन और उपभोग और उसकी पुनर्रचना पुनर्भरण में नियंत्रण स्थापित करने की सामर्थ्य स्वयं प्रकृति के ही पास है।"<sup>2</sup>

'धार' उपन्यास के केन्द्र में संथालों का गाँव बांसगड़ा है और मैना इसकी नायिका है। मैना के जेल वास से उपन्यास शुरू होता है। उनकी जेल में कैद होने का कारण बांसगड़ा क्षेत्र में स्थापित तेजाब फैक्ट्री का विरोध करने के कारण हुई जो उस क्षेत्र के लोगों के जीवन में ज़हर घोल रही हैं। तेजाब की फैक्ट्री ने न सिर्फ वहाँ के पर्यावरण को दूषित किया है बल्कि लोगों को परंपरागत कृषि कार्य से वंचित कर बरबादी के कगार पर ला पटका है। बांसगड़ा गाँव में प्रवेश करने पर हमको गाँव भर खाँसते और उबकाइयों की आवाज़ें ही सुनने देंगे। गाँव के सब लोगों को मालूम है कि छावनीनुमा कारखाने में गन्धक का तेजाब बन रहा है। तेजाब के कारखाने से खेती-बाड़ी से मुश्किल से तीन महीने का जो दान मिल जाता था अब एक तरिन भी नहीं मिलती थी। गाँव से बाहर रांची, हज़ारबाग, से मज़दूरों को बुलाकर लाया लेकिन सब के सब खाँसते बीमार होके भाग गये। इन संथाल आदिवासियों को निरीह मानकर छाती पे बना है ज़हर का फैक्ट्री।

बांसगड़ा सचमुच बांस का गड़ा है। गाँव हर समय मौत का इन्तज़ार करता रहता है। बांसगड़ा प्रायः उजाड़ हो चले थे। अभी ज़्यादातर अवैध कोयला खनन भी गड्डो में पानी भर जाने से बन्द है। बांसगड़ा में सूखती हरियाली को ही देख सकता है। मैना कहती है "हमको याद आता जब हम बच्चा था खेती से चार छः महीने का कमाई चल जाता, आज एक दिन का भी नई। खेत-खतार, पेड़-रूख, कुआँ, तालाब हम और हमारा बाल-बच्चा तक आज तेजाब में गल रहा है।"<sup>3</sup> गाँव के किसी के पास पीने का पानी नहीं है। कुएँ, तालाब में से सब को पानी नहीं तेजाब मिलता है।

आज प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति मानव के दृष्टिकोण में अंतर आया है। इस समय प्रकृति के प्रति उपेक्षा बढ़ती जा रही है। प्राकृतिक पर्यावरण की उचित देख भाल किए बिना प्रकृति से आधिकाधिक सामग्री प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। फलतः पर्यावरण में असंतुलन पैदा हो गया है। उपभोक्तावादी समाज की नयी नयी मांगों के कारण ही आज परिस्थिति विनाश की ओर बढ़ रही है। इस विनाश को संकेत करने का कार्य समकालीन उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों के द्वारा किया है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था आदिवासियों को खदेड़कर विस्थापित की जाती रही है। और वे बंजारों की तरह इधर उधर भटकते फिरते रहते हैं। आज व्यवस्था बदल गयी है, शोषण के तरीके बदल गये हैं। आदिवासी का अपना प्रजातांत्रिक तरीका है जो जन और जड़ से जुड़ा था, जो खत्म कर दिया गया और अब बाकी रह गया है रिश्ता केवल शोषक और शोषित का। हाशिए पर रहनेवाले इन भोले जनजातियों के शोषण व दयनीय दुर्दशा के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी शिक्षा की कमी है। शिक्षा से ज्ञान का प्रसार होता है, ज्ञान आंतरिक बल देता है, जो कि आदिवासियों को शोषण व गरीबी से मुक्ति पाने के लिए बहुत ही आवश्यक है। सरकारी विकास कार्यक्रमों का पूरा लाभ आदिवासियों को नहीं मिल पा रहा है। सरकारी गणों ने इनके अधिकारों की रक्षा करने की बजाए इनकी दुर्दशा का लाभ उठाया। इस प्रवृत्ति ने जनजातीय लोगों के आर्थिक आधार को तहस नहस कर दिया। और उन्हें दरिद्र बना दिया। इससे केवल उनके मन में अपने देशवासियों के प्रति कड़वाहट भर गयी बल्कि समाज की मुख्य धारा से भी उन्हें अलग कर दिया।

आदिवासी मूल रूप में वनों के संरक्षक हैं। इन लोगों के अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति के साथ वनों का संबन्ध भी बहुत गहरा है। लेकिन आज वन का मालिक सरकार हो गया है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनजातियों के विकास में मुख्य बाधा अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ आदि हैं। आदिवासी क्षेत्रों में आर्थिक संस्थानों के अभाव के साथ साथ चिकित्सा सुविधाएं भी पर्याप्त नहीं हैं। उनके सांस्कृतिक परिवेश और कला को साधारण जनों के समक्ष आश्चर्य व तमाशे के रूप में प्रस्तुत करते हैं, यह उस आदिम समाज को अपमान करने जैसा है। विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों की भी अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज और बोलचाल आदि होते हैं। इन लोगों के समाज दूसरों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। और उनका शोषण करने वाले विभिन्न लोग भी उन लोगों के चारों तरफ मौजूद हैं। इनकी संस्कृति, अभावग्रस्तता आदि के ओर भी प्रकाश डालने का कार्य समकालीन आदिवासी उपन्यासकार ने किया है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पारिस्थितिक समस्याओं की अभिव्यक्ति केवल पर्यावरणीय संकटों का चित्रण नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अन्यायों का भी उद्घाटन करती है। इन उपन्यासों में प्रकृति का दोहन केवल संसाधनों की दृष्टि से नहीं, बल्कि सत्ता, पूँजी और मुनाफे की मानसिकता से जुड़ा हुआ है, जहाँ जंगल, जल, भूमि, वन्य जीव और आदिवासी समुदायों के अस्तित्व को संकट में डाल दिया गया है। गगन घटा घहरानी, जंगल जहाँ शुरू होता है, पार और जहाँ खिले हैं रक्त पलाश जैसे उपन्यासों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि विकास के नाम पर हो रहा यह अंधाधुंध दोहन एक ओर प्रकृति को क्षति पहुँचा रहा है, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक जीवन, आदिवासी संस्कृति और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को भी उजाड़ रहा है। ये रचनाएँ पाठकों को चेतावनी देती हैं कि यदि हमने प्रकृति और उसके साथ रहने वाले समुदायों के प्रति अपनी दृष्टि नहीं बदली, तो भविष्य केवल सूखा, अकाल और



बीमारी से ग्रस्त ही नहीं होगा, बल्कि मानवीय संवेदना और सामाजिक न्याय से भी शून्य हो जाएगा। अतः यह आवश्यक है कि साहित्य के इस पर्यावरणीय विमर्श को समाज में जागरूकता और प्रतिरोध की प्रेरणा के रूप में देखा जाए

**संदर्भ :**

- 1 गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक - पृ.सं- 250
- 2 पर्यावरण व संस्कृति - शंबू पटवा -पृ.सं -50
- 3 धार - संजीव - पृ.सं -56